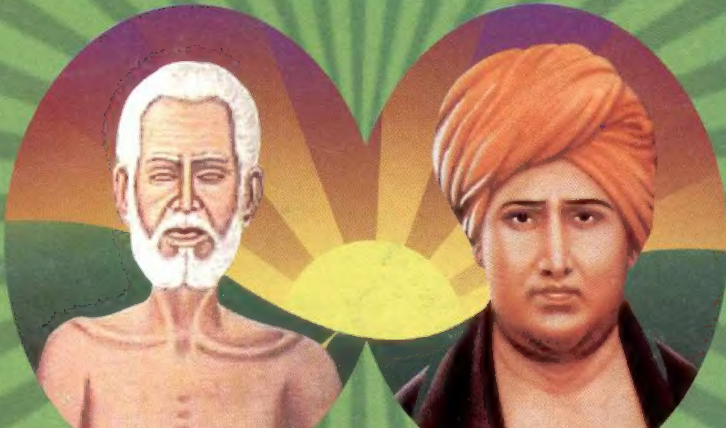
निराले गुरू शिष्य



दण्डी स्वामी विरजानन्द

महर्षि दयानन्द सरस्वती

[redacted]

ओ३म्

निराले गुरु - शिष्य

- महात्मा चैतन्यमुनि

प्रकाशकः

धर्मार्थ सेवा प्रकाशन

सी. 2/288 जनकपुरी दिल्ली - 110058

अगस्त 2009

मुद्रक : पर्ल ऑफसेट पैस प्रा. लि.

5/33 कीर्ति नगर, नई दिल्ली - 110015

संक्षिप्त परिचय :



- जन्म : 15 जुलाई, 1948, रिवालसर, जि० मण्डी, हि० प्र० पण्डित रामशरण जी एवं श्रीमती धनवन्ती
- लगभग पैतीस पुस्तकें प्रकाशित।
- आकाशवाणी एवं दूरदर्शन से रचनाओं का निरन्तर प्रसारण।
- अनेक संस्थाओं से जुड़कर राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार हेतु सराहनीय कार्य।
- 'आर्यवन्दना' का चौदह वर्षो तक सम्पादन अब 'वैदिक वशिष्ठ पत्रिका' मासकि पत्रिका का सम्पादन।
- सहित्य अकादमी सहित बीसिओं राष्ट्रीय एवं अन्तर-राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित।
- वैदिक प्रवक्ता के रूप में अब तक नेपाल, हिमाचलप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, जम्मू कश्मीर, दिल्ली, चण्डीगढ़, आन्ध्रप्रदेश, विहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, उत्तराचंल आदि के ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में सफलता प्रचार कार्य कर चुके है।
- आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकारी अध्यक्ष, वरिष्ठ उपाध्यक्ष, महामन्त्री, वेद प्रचार अधिष्ठाता, संचालक आर्यवीर दल आदि अनेक पदों पर रहकर महत्वपूर्ण कार्य।
- योग, चरित्र-निर्माण, संस्कार आदि शिविरों का सफल संचालन।
- संस्थापक अध्यक्ष 'वैदिक वशिष्ठ आश्रम (महर्षि दयानन्द धाम) एवं 'वैदिक वशिष्ठ पत्रिका'

पता :- महादेव, तह० सुन्दर नगर जिला मण्डी (हि० प्र०),
दूरभाष : 0197/207592, चलभाष : 94180-53092

निवेदन

किसी देश की सबसे बड़ी सम्पदा महापुरुष और धार्मिक ग्रन्थ होते हैं। इन्हीं से जीवन जगत सुधरता, संभलता और आगे बढ़ता है। इस दृष्टि से विश्व में भारत की अपनी अलग पहचान और सम्मान है। महापुरुषों की लम्बी परम्परा में गुरुवर विरजानन्द दण्डी को बड़ी श्रद्धा-सम्मान और उच्चभाव से स्मरण किया जाता है। ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के मूल निर्माण तथा संकल्प में गुरु विरजानन्द दण्डी की स्मरणीय एवं ऐतिहासिक भूमिका रही है। उन्होंने स्वामी दयानन्द को आर्ष पठन-पाठन की ओर प्रेरित किया। गुरु की भूमिका को बड़ी सुन्दरता से निभाया। दक्षिणा में भौतिक पदार्थ न मांगकर स्वामी दयानन्द से उनका जीवन ही मांग लिया। उन्होंने स्वामी दयानन्द से कहा वचन दो और संकल्प करो- सत्य सनातन वैदिक धर्म के उद्धार व प्रचार में जीवन लगा दूँगा। संसार में फैले हुए ढ़ोंग, पाखण्ड अज्ञान आदि को हटाने व मिटाने के लिए जीवन भर संधर्ष करता रहूँगा। ऐसे निराले गुरु और शिष्य का मिलन बड़े सौभाग्य से होता है। संसार के इतिहास में यह मिलन की घटना अनूठी व निराली थी।

गुरुवर विरजानन्द दण्डी और स्वामी दयानन्द के प्रथम मिलन के 150 वें वर्ष के उपक्ष्य पर 6-7 एवं 8 नवम्बर 2009 में अन्तर्राष्ट्रीय महासम्मेलन मथुरा (उ० प्र०) के ऐतिहासिक समारोह

प्रचारार्थ निःशुल्क वितरित करने का संकल्प आया। जिससे लोगों को पता चले-गुरु विरजानन्द दण्डी और स्वामी दयानन्द क्या थे ? क्या उनका जीवन और महत्व था। महापुरुषों के जीवन चरित्र और प्रेरक धटनाएं प्रकाशस्तम्भ होती है जो हमें संभालती, सुधारती और जीने की राह दिखाती है। इससे जीवन सन्मार्ग की ओर प्रेरित बना रहता है। हम पुस्तिका के लेखक आर्यजगत के ख्याति प्राप्त विद्वान सम्माननीय चैतन्य मुनि जी हैं। जो वाणी और लेखनी के घनी हैं। मैं उनके सहयोग एवं प्रयास के लिए आभार व धन्यवाद करता हूँ। जिन्होंने इसके प्रकाशन में आर्थिक सहयोग किया, उनका भी धन्यवादी हूँ।

आशा है कि पाठक गण स्वयं पढ़ेंगे और दूसरों को पढ़ने के लिए प्रेरित करेंगे। लोग मुफ्त की पुस्तक लेते और फेंक देते हैं, यह पुस्तक व लेखक का अपमान है। पुस्तक को संभालकर रखना ही इसकी असली कीमत है।

निवेदक

दीपावली

सोमदत्त महाजन

अक्टूबर-नवम्बर 2009

उपप्रधान

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा (कैम्प)

आर्य समाज हनुमान रोड, नई दिल्ली

दो-शब्द

दण्डी गुरू स्वामी विरजानन्द जी तथा महर्षि दयानन्द जी दो ऐसे ऐतिहासिक महापुरूष है जो अपने आप में अनुपम एवं विलक्षण है। दोनों ही ईश्वर-भक्त, योगाभ्यासी, वीतराग संन्यासी, तपस्वी, त्यागी, ब्रम्हाचारी, वितैषणा-पुत्रेषणा-लोकेषणा रहित, सत्यान्वेषी, शास्त्रार्थ समर के अजेय योद्धा, स्पष्टवादी, राष्ट्र-भक्त, वैदिक संस्कृति के पोषक तथा व्याकरण के अिद्वतीय विद्वान थे। बड़े से बड़ा प्रलोभन भी उन्हें अपने आदर्शो से विमुख नहीं कर सका। उनके सामने किंचन-मात्र भी अपना किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं था बल्कि डनहोंने अपना सर्वस्व मानव-मात्र की सेवा में समर्पित कर रखा था। रात-दिन बस एक ही चिन्ता कि आर्यावर्त्त की ज्ञान-गरिमा को पुनः प्रचारित व प्रसारित करके समृद्ध करें ताकि हमारा वही प्राचीनतम् खोया हुआ गौरव हमें प्राप्त हो सके। दोनों ही का मानना था कि महाभारत के भयंकर युद्ध के समय से ही इस विश्व-गुरू आर्यावर्त्त का पतन आरंभ हुआ और तत्व-वेत्ता, आत्म वेत्ता एवं वेद-वेत्ता ऋषियों के आभाव में यह पतन निरन्तर और अधिक आत्मघाती होता चला गया। जो भी तथाकथित समाज सुधारक कार्यक्षेत्र में निकला किसी न किसी अपनी एषणा का शिकार हो कर इस महान् भारत को रसातल की ओर ही ले जाता रहा। किसी में भी इतना साहस नहीं था कि एषणारहित होकर एक ईश्वर, एक धर्म तथा मानव-मात्र के उत्थान के लिए जीवन-पद्धति की उद्घोषणा कर सके। इस प्रकार ये दिशाहीन तथाकथित समाज-सुधारक, गुरू, पैगम्बर एवं मसीहा मानवता को और भी अधिक खण्डित करने का ही पाप करते रहे।

वर्तमान में स्थिति और भी अधिक विकट से विकटतर होती जा रही है। दिन-प्रतिदिन नए से नया कोई व्यक्ति उठ खड़ा होता है और

उपने लिए एक नई ही जमात अलग से पैदा कर लेता है। अलग-अलग मनुष्य-कृत ग्रन्थों को मान्यता मिल रही है, अलग-अलग गुरू-मन्त्र दिए जा रहे है, अलग-अलग पूजा-पद्धतियां प्रचलित हो रही है, परमात्मा की उपासना के सीन पर व्यक्तियों की पूजा-अर्चना हो रही है .... उन्हीं की आरतियां उतारी जा रही है .... उन्हीं की बड़ाई में भजन गाए जा रहे है .... धर्म एक पाखण्ड बन गया है .... योग एक व्यवसाय बन गया है . ... कितना अपराध हो रहा है .... बड़े-बूढ़े सब दिशाहीन हो रहे है .... . भावी पीढ़ी किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो रही है .... राष्ट्र टूट की कगार पर है . ... सामाजिक समरता छिन्न-भिन्न हो रही है .... अनाचार है, दुराचार है, भष्ट्राचार है, द्वेष है, घृणा है, जातिवाद है, मत-मज़हब वाद है .... चारों ओर आंतकवाद का वातावरण है .... यह सब हो रहा है अपने-अपने स्वार्थो के कारण। बीच में से यदि अपना-अपना स्वार्थ हट जाए तो आज भी एक आदि वैदिक धर्म की स्थापना हो सकती है, एक ईश्वर की ही उपासना हो सकती है, सबका एक ही गुरू-मन्त्र हो सकता है, सामाजिक समरता स्थापित हो सकती है और अपना यह देश पुनः विशवगुरू बन सकता है। विश्व-बन्धुत्व का सपना साकार हो सकता है।

दण्डी गुरू स्वामी विरजानन्द जी तथा उनके शिष्य महर्षि दयानन्द सरस्वती जी अपने आप में कितने अनुपम एवं विलक्षण व्यक्तितत्व के मालिक थे कि उन्होंने कहीं भी कभी भी अलग मत चलाने की कल्पना तक नहीं की। अपनी स्तुति, अपनी पूजा तथा अपना अलग से वर्चस्व स्थापित करना तो दूर रहा इस प्रकार की सोच भी उनके लिए न्यायकारी परमात्मा की दृष्टि में महान् अपराध था। उनके लिए तो ईश्वरीय ज्ञान 'वेद' ही सर्वोपरि रहा। महाभारत काल से पूर्व जितने भी ऋषि-महर्षि हुए, तत्व-वेत्ता हए, आचार्य हुए, महापुरूष हुए किसी ने भी अपना अलग मत या सम्प्रदाय चलाने का अपराध नहीं किया। बह्मा, शिव,

विष्णु, मनु, वशिष्ठ, विश्वामित्र, लोमश, याज्ञवल्क्य, गौतम, कणाद, व्यास, कपिल, पतजंलि, जैमिनी, मर्यादा पुरूषोतम श्रीराम, योगेश्वर श्रीकृष्ण आदि अनेक दिव्य विभूतियों के लिए ईश्वरीय ज्ञान वेद ही सर्वोपरि था। इसे परमपिता परमात्मा की आपार कृपा और भारतवर्ष का सौभाग्य ही कहा जाऐगा कि आधुनिक युग में उपरोक्त ऋषियों-महर्षियों की ही परम्परा दण्डी स्वामी विरजानन्द जी तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती जी जैसे मनीषियों का प्रादुर्भाव हुआ जिनके लिए वेद ही सर्वेपरि था।

विदुषामनुचरः
चैतन्यमुनि
वैदिक वशिष्ठ आश्रम(महर्षि दयानन्द धाम)
महादेव, सुन्दर नगर, जिला मण्डी (हि० प्र०)
दूरभाष : 01907-207592, चलभाष : 09418053092

ओ३म्

निराले गुरु-शिष्य

पंजाब प्रान्त में जालन्धर जिले के गंगापुर नामक ग्राम में पण्डित नारायण दत्त जी रहा करते थे। इनके दो पुत्र थे बड़े का नाम धर्मदास तथा छोटे का नाम बृजलाल था। पण्डित जी के छोटे पुत्र बृजलाल ही आगे चलकर व्याकरण के सूर्य, अनुपम तपस्वी, अद्भुत तार्किक तथा भारत के भाग्य-विधाता एवं महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के गुरू दण्डी स्वामी विरजानन्द जी के रूप में सुविख्यात हुए। महर्षि जी ने सन् 1875 में अपने पूणे प्रवचन में कहा था कि जब वे अपने गुरू से मिले तो उस समय उनकी अवस्था 81 वर्ष की थी इसी आधार पर उनका जन्म सन् 1779 सुनिश्चित होता है। मात्र पांच वर्ष की आयु में ही शीतला के प्रकोप के कारण बृजलाल की दोनों आँखों की दृष्टि जाती रही तथा बारह वर्ष अल्पायु में ही वह माँ-बाप की छत्र-छाया से वंचित हो गया। भाई-भाभी को बृजलाल बोझ लगने लगा और उनके दुर्व्यवहार से इस अन्धे बालक को गृह-त्याग करना पड़ा। अन्ततः अढ़ाई वर्ष की लम्बी पद-यात्रा के बाद बृजलाल ऋषिकेश पहुँचा और वहाँ पर आठ वर्ष की आयु में अपने पिता द्वारा दी गई गायत्री-दीक्षा के आधार पर तीन वर्ष तक घोर तपस्या की। आमतौर पर लोग ईश्वरीय-व्यवस्था एवं सृष्टि-नियमानुकूल दण्डी स्वामी गुरू विरजानन्द जी वास्तव में ही किसी चमत्कार से कम नहीं। बालक

पंजाव प्रान्त में जालन्धर जिले के गंगापुर नामक ग्राम में पण्डित नारायण दत्त जी रहा करते थे। इनके दो पुत्र थे बड़े का नाम धर्मदास तथा छोटे का नाम बृजलाल था। पण्डित जी के छोटे पुत्र बृजलाल ही आगे चलकर व्याकरण के सूर्य, अनुपम तपस्वी, अद्भुत तार्किक तथा भारत के भाग्य-विधाता एवं महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के गुरू दण्डी स्वामी विरजानन्द जी के रूप में सुविख्यात हुए। महर्षि जी ने सन् 1875 में अपने पूणे प्रवचन में कहा था कि जब वे अपने गुरू से मिले तो उस समय उनकी अवस्था 81 वर्ष की थी इसी आधार पर उनका जन्म सन् 1779 सुनिश्चित होता है। मात्र पांच वर्ष की आयु में ही शीतला के प्रकोप के कारण बृजलाल की दोनों आँखों की दृष्टि जाती रही तथा बारह वर्ष अल्पायु में ही वह माँ-बाप की छत्र-छाया से वंचित हो गया। भाई-भाभी को बृजलाल बोझ लगने लगा और उनके दुर्व्यवहार से इस अन्धे बालक को गृह-त्याग करना पड़ा। अन्ततः अढ़ाई वर्ष की लम्बी पद-यात्रा के बाद बृजलाल ऋषिकेश पहुँचा और वहाँ पर आठ वर्ष की आयु में अपने पिता द्वारा दी गई गायत्री-दीक्षा के आधार पर तीन वर्ष तक घोर तपस्या की। आमतौर पर लोग ईश्वरीय-व्यवस्था एवं सृष्टि-नियमानुकूल दण्डी स्वामी गुरू विरजानन्द जी वास्तव में ही किसी चमत्कार से कम नहीं। बालक बृजलाल की आँखों की भौतिक-दृष्टि तो चली गई थी मगर उसके अन्तर्चक्षु खुल गए जिससे उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त हुई। उनकी स्मृति अत्यन्त कुशाग्र थी तथा इन्हें सुनी हुई विद्या शीघ्र ही कंठस्थ हो जाती थी इसीलिए लोग उन्हें प्रज्ञाचक्षु कहा करते थे।

सन् 1797 में बालक बृजलाल ने हरिद्वार में स्वामी सम्पूर्णानन्द

सरस्वती जी से संन्यास की दीक्षा ली और उनका नाम स्वामी विरजानन्द दण्डी रखा गया। अपने गुरू स्वामी सम्पूर्णानन्द जी से उन्होनें व्याकरण का अध्ययन किया और उसके बाद पढ़ने के लिए वे सन् 1800 में काशी पहुँचे। यहाँ वे स्वयं भी पढ़ते थे तथा अन्यों को भी पढ़ाते थे। इसके बाद स्वामी जी गया तथा बाद में कोलकता पहुँचे। अनेक ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन किया। कोलकता से वे एटा जिले के सोरों नामक स्थान में पधारे। यहाँ पर उनकी तेजस्वी आकृति तथा ज्ञान-गरिमा से प्रभावित होकर अलवर नरेश सवाई विनयसिंह उन्हें अपने साथ अलवर ले गए। स्वामी जी ने राजा के साथ जाना इस शर्त पर स्वीकार किया था कि राजा साहब नित्य नियम से पढ़ेंगे, जिस दिन वे पढ़ने से अनुपस्थित होंगें स्वामी जी अलवर छोड़कर चले जाऐंगे। बहुत समय तक अध्ययन-अध्यापन चलता रहा मगर एक दिन राजा विनयसिंह अध्ययनार्थ उपस्थित नहीं हो सके और स्वामी विरजानन्द जी अलवर छोड़कर भरतपुर चले गए। भरतपुर के राजा बलवन्तसिंह स्वामी जी की विद्वता से अत्यधिक प्रभावित हुए तथा उनसे भरतपुर में ही स्थाई-रूप से रहने का आग्रह किया मगर दण्डी जी वहाँ मात्र छः महीने ठहर कर मथुरा होते हुए अपने शिष्य अंगदराम सहित मुरसान पहुँचे। कुछ दिन वहाँ के राजा टिकमसिंह का आतिथ्य स्वीकार कर बेसवां चले गए और फिर पुनः मुरसान होते हुए सोरों पधारे। कुछ समय और सोरों में निवास करने के बाद अन्ततः दण्डी स्वामी जी मथुरा आ गए। वे मथुरा में सन् 1845 में आए और 14 सितम्बर, 1868 अर्थात् शरीर त्यागने तक मथुरा में ही रहे।

दण्डी स्वामी विरजानन्द जी अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। वे व्याकरण के सिद्धहस्त विद्वान माने जाते थे। स्वयं उनके शिष्य महर्षि

दयानन्द जी ने उनके निधन पर कहा था कि आज संसार से व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया। दृष्टि-हीन होने के बाबजूद उनमें अपार आत्मविश्वास, स्वाभिमान तथा आन्तरिक-शक्ति विद्यमान थी। वे अपने सभी कार्य नेत्रवानों के समान ही कर लिया करते थे। कहीं आते-जाते या सीढ़ियाँ आदि चढ़ते-उतरते किसी की सहायता नहीं लिया करते थे। एक बार अपने शिष्य प्रेमसुख के साथ कहीं जा रहे थे। मार्ग में नहर थी। प्रेमसुख ने सावधान किया तो नाराज हो गए और बिना प्रेमसुख की सहायता के कई बार नहर के आर-पार जाकर उसे चकित कर दिया। एक पात्र से दूसरे पात्र मे जल डालते समय एक बून्द भी बाहर न गिरने देते थे। एक बार मथुरा के स्वर्णकार नयनसुख को दण्डी जी ने विभिन्न रत्नों की परख के विषय में उपदेश दिया तो उनकी रत्नपरीक्षा में अद्भुत दक्षता देखकर नयनसुख विस्मित रह गया था। एक बार इन्हीं नयनसुख जड़िया को दण्डी जी ने शतरंज में स्वयं चालें चलबा कर केदारनाथ खत्री से विजय दिलवाई थी। उस समय उन्होनें शतरंज के आठ प्रकारों की चर्चा की थी। खेल को समाप्ति की ओर ले जाते हुए दण्डी जी ने कहा-अब तक हम दोनों की 171 चालें हुई है। मैं अब 172 वीं चाल चलता हूँ। दण्डी जी ने घोड़े की किश्त दिलाई। केदारनाथ ने बाई ओर हाथी के पास बादशाह को हटा लिया। तब दण्डी जी कहने लगे-किश्त ऊँट की भी लग सकती है, परन्तु वजीर की शय दो और कह दो मात। जड़िया जी अभी वजीर को छुने ही लगे थे कि केदारनाथ अपने बादशाह की हालत पर हैरान हो गए और बोले-क्या खूब करामाती मात है।

एक बार दिल्ली के प्रसिद्ध पण्डित हरिश्चन्द्र ने उनकी पाठशाला में अचानक प्रवेश किया तथा स्वामी जी के पूछने पर असत्य कह दिया कि

वह दिल्ली के हरिश्चन्द्र पण्डित जी का एक पड़ोसी कायस्थ है। स्वामी जी ने उससे तुरन्त कहा-असत्य मत बोलो। तुम स्वयं हरिश्चन्द्र ही हो उसके पड़ोसी नहीं। हरिश्चन्द्र आया तो कुछ वितण्डावाद करने को था मगर स्वामी जी की प्रतिभा को देखकर वहाँ से लज्जित होकर चलता बना। ग्वालियर के एक पण्डित गोपाल आचार्य को एक सेठ गुरू सहायमल ने अच्छा वैयाकरण मानकर सौ रूपए भेंट किए तो गुरू विरजानन्द ने सेठ से कहा कि तुम चाहे पण्डित जी को जितना चाहो धन भेंट करो मगर यदि इसे एक अच्छा वैयाकरण मानकर भेंट कर रहे हो तो यह बात इसे सिद्ध करने के लिए कहें। आचार्य तो बगलें झांकने लगा मगर काशी से आए पण्डित विश्वेश्वर शास्त्री ने आचार्य जी को शास्त्रार्थ के लिए तैयार कर लिया। रंगाचार्य की मध्यस्थता में शास्त्रार्थ हुआ। आचार्य गोपाल का पक्ष था कि भाव एक प्रकार का है और इसकी द्वैधता महाभाष्य में नहीं है। परन्तु दण्डी जी ने अष्टाध्यायी का सूत्र प्रस्तुत करके द्वैधता सिद्ध कर दी। इस पर रंगाचार्य ने स्वामी जी की बहुत प्रशंसा की। पण्डित गंगाराम तीर्थ-यात्रा करते हुए मथुरा पहुँचे तथा दण्डी जी से शास्त्र-चर्चा हुई तथा उन्होंने अनार्ष-ग्रन्थों का प्रबल खण्डन किया जिससे शास्त्री जी अत्यधिक प्रभावित हुए तथा भविष्य में पाणिनि का प्रचार करने का संकल्प लिया। एक बार स्वामी आदित्यगिरि अपने एक सौ से अधिक शिष्यों के साथ मथुरा पधारे तथा भगवत्गीता की कथा करने लगे। भारी संख्या में श्रद्धालु उन्हें सुनने के लिए आने लगे। दण्डी जी ने उन स्वामी जी के पास अपने दो शिष्यों को कौमुदी के दोषों की चर्चा करने के लिए भेजा। कथा की समाप्ति पर उन दोनों ने स्वामीजी से कौमुदी की अशुद्धता पर वार्तालाप किया तो स्वामी जी स्तब्ध रह गए। अन्ततः वे स्वयं दण्डी जी से आकर मिले तथा उनसे चर्चा

करने के बाद स्वीकार किया कि वास्तव में ही कौमुदी अशुद्ध है। नैयायिक धरणिधर ने चौदह वर्ष नव्य न्याय का अध्ययन किया था मगर जब उन्होंने मथुरा में दण्डी जी से शास्त्र-चर्चा की तो बोले कि मैने चौदह वर्ष व्यर्थ ही नष्ट किए इससे अच्छा तो यह था कि मैं आपसे ही पढ़ लेता।

एक बार एक चालाक पण्डित दण्डी जी के पास उन्हें पराजित करने के लिए आया। उसकी स्मरण-शक्ति बहुत तेज थी तथा दूसरे विद्वान् की कही हुई बात को तुरन्त स्मरण करके उसे ही दोहरा कर कहता था कि यह तो दास पहले से ही जानता था कोई नई बात तो कही नहीं। दण्डी जी उसकी चालाकी भांप गए और गणपाठ में आए अप्रचलित शब्दों से युक्त संस्कृत बोलनी आरंभ कर दी। वह चालाक पण्डित उन बातों को तुरन्त स्मरण नहीं कर सका और दण्डी जी से विनम्र होकर बोला-जिस कौशल से मैनें बड़े-बड़े पण्डितों को पराजित किया था, वह आपके समक्ष बेकार है। निःसन्देह आप विद्या के भण्डार हैं। एक बार कोई यूरोपीय संस्कृत विद्वान् मथुरा आए तथा उन्होंने क्लेक्टर के बंगले पर कुछ विद्वानों को आमंत्रित किया। दण्डी जी भी निमंत्रण मिलने पर इस गोष्ठी में सम्मिलित हुए। यूरोपीय विद्वान् ने सायण-भाष्य की चर्चा की और कुछ वेद-मंत्रों का उच्चारण किया। दण्डी जी अशुद्ध मंत्रोच्चारण को सहन न कर सके तथा तुरन्त बोले-ऐसा अशुद्ध उच्चारण करने वालों को वेदाध्ययन का अधिकार किसने दिया। पराधीनता के उन दिनों में इतना साहसपूर्ण वक्तव्य सुनकर उपस्थित पण्डित मण्डली स्तब्ध रह गई। जिन दिनों रंगाचार्य की समृद्धि एवं सम्मान चरम शिखर पर था, तब उनके विद्या गुरू कृष्ण शास्त्री वृन्दावन पधारे। यमुना तट पर आरती के समय कुछ विद्वानों में 'अजाद्युक्ति' पद के समास पर विवाद हो गया। दण्डी जी

के शिष्य गंगादत्त चौबे तथा रंगदत्त चौबे विचार विमर्श करने के बाद इस निर्णय पर पहुँचे कि इसमें षष्ठी तत्पुरूष समास है मगर दूसरा पक्ष इस बात पर अड़ गया कि सप्तमी तत्पुरूष समास है। जब दण्डी जी ने षष्ठी तत्पुरूष समास का पक्ष लिया तो दूसरे पक्ष ने दण्डी जी को शास्त्रार्थ के लिए आहूत कर दिया। दण्डी जी तो इसके लिए तुरन्त तैयार हो गए मगर दूसरे पक्ष वालों में से कोई भी दण्डी जी के समक्ष आने का साहस नहीं जुटा पा रहा था क्योंकि मथुरा निवास की अवधि में कोई भी पण्डित दण्डी जी को परास्त नहीं कर सका था। दूसरे पक्ष वाले कृष्ण शास्त्री को इसलिए नहीं भेजना चाहते थे कि यदि वह कहीं हार गया तो बड़ी समस्या पैदा हो जाऐगी क्योंकि असत्य के आधार पर मिला हुआ मान-सम्मान समाप्त हो जाऐगा। उन्होंने दण्डी जी से कहा कि वे कृष्ण शास्त्री के प्रतिनिधि के रूप लक्ष्मण शास्त्री एवं मुरमुरिया पण्ड्या से ही शास्त्रार्थ कर लें मगर विरजानन्द जी ने कहा कि शास्त्रार्थ तो कृष्ण शास्त्री से ही होगा। विरजानन्द जी न अपने शिष्यों को यह कहकर शास्त्रार्थ स्थल पर भेजा कि जब कृष्ण शास्त्री आ जाएं तो उन्हें बुला लें। लेकिन कृष्ण शास्त्री शास्त्रार्थ करने के लिए आए ही नहीं। सेठ राधाकृष्ण ने चाल चली और कहा कि शास्त्री जी के आने तक विरजानन्द के शिष्य ही लक्ष्मण शास्त्री और मुरमुरिया जी से वार्तालाप करें। वार्तालाप में गाली गलौच आरम्भ हो गई और सेठ राधाकृष्ण ने घोषणा कर दी कि विरजानन्द जी हार गए। दण्डी स्वामी विरजानन्द जी ने जिलाधीश से अपील की मगर उसने कुछ भी करने पर असमर्थता प्रकट की। उधर सेठ राधाकृष्ण ने अपने पक्ष की पुष्टि कराने के लिए विद्वानों को दो-दो सौ रूपए देकर हस्ताक्षर करवा लिए। विद्वान् दो-दो सौ रूपए में बिक गए। स्वामी विरजानन्द जी ने इस पर

पण्डितों से एतराज किया तो वे लोभी पण्डित बोले कि यदि वे सौ-सौ रूपए दें तो उनके पक्ष में भी जितने चाहें हस्ताक्षर करवाए जा सकते हैं मगर विरजानन्द जैसे आत्मवेत्ता ऋषि तो पक्ष-विपक्ष की हार-जीत के लिए नहीं बल्कि सत्य और असत्य का निर्णय करने-कराने के लिए ही शास्त्रार्थ करने के पक्षधर होते हैं।

दण्डी स्वामी जी इस घटना से बहुत चिन्तित हुए। उनकी चिन्ता थी कि काशी, मथुरा तथा आगरा आदि के सभी पण्डित धन के लालच में आकर असत्य के साथ समझौता करने वाले हैं। कोई भी सत्य की साक्षी देने के लिए उद्यत नहीं। अन्ततः उन्हें अपने कथन की साक्षी अष्टाध्यायी के सूत्र **'कर्तृकर्मणोः कृत'** (2-3-65) में प्राप्त हुई। चिन्तन करने पर उन्हें निश्चय हुआ कि उनकी उपर्युक्त षष्ठी तत्पुरूष समास सम्बन्धी मान्यता महर्षि पाणिनि के इस सूत्र की सही व्याख्या पर आधारित है। दण्डीजी के हृदय में अष्टाध्यायी के प्रति श्रद्धा का बीजारोपण स्वामी अलवर प्रवास के समय भी उनकी पाणिनि के प्रति श्रद्धा थी और तब तक उन्होंने अष्टाध्यायी का कुछ अध्ययन अवश्य कर लिया था। उनके शिष्य वनमाली चौबे ने देवेन्द्रनाथ मुखोपध्याय के नाम पत्र में लिखा था कि मथुरा में पाठशाला खोलते समय स्वमी विरजानन्द जी सामान्य भाव से अष्टध्यायी पढ़ाया करते थे। सन् 1845 में जब वे मथुरा पधारे तो सर्वप्रथम उन्होंने गुजरमल की कोठी पर विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया मगर वहाँ वे केवल डेढ़-दो महीने से अधिक नही ठहरे। उसके बाद वे गतश्रम नारायण मन्दिर के व्यवस्थापक प्रसादीलाल आचार्य के अनुरोध पर उस मन्दिर में चले गए। इस मन्दिर में खोली गई पाठशाला दो महीने की चली। उसके बाद दण्डी जी पाठशाला उठाकर निकट ही कंसखार पर केदारनाथ खत्री

के दो मंजिला मकान में ले आए।

भारतीय इतिहास में जिस बात के लिए दण्डी स्वामी जी को बुद्धिवादी मनीषी सदा स्मरण करते रहेंगे, वह बात यह है कि उन्होंने आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों को न केवल चिन्हित किया बल्कि अनार्ष ग्रन्थों को त्यागने और आर्ष ग्रन्थों को अपनाने का प्रबल आधार प्रस्तुत किया। इसी के पठन-पाठन हेतु उन्होंने पाठशाला की स्थापना की तथा अपना पूरा जीवन इसके लिए समर्पित कर दिया। वे पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के सूत्रक्रम को सर्वोत्तम मानते थे। वे अपने विद्यार्थियों को महाभाष्य एवं अष्टाध्यायी का अध्ययन कराते थे। ज्यों-ज्यों उन्होंने इन ग्रन्थों का और अधिक मनन एवं चिन्तन किया त्यों-त्यों उनकी श्रद्धा और अधिक प्रगाढ़ होती चली गई। दण्डीजी ने एक श्लोक की रचना भी की-

अष्टाध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
ततोऽन्यत् पुस्तकं यत्तु तत्सर्व धूर्तचेष्टितम्।।

अर्थात् अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य ही व्याकरण की दो पुस्तके है। इनसे अन्य जो पुस्तकें (कौमुदी आदि) हैं, वे सब धूर्तो की चेष्टाएं हैं। भट्टोजी दीक्षित के कौमुदी सिद्धान्त को वे उपयुक्त नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा था-भट्टोजी मूर्ख था। वह इस पवित्र भारतभूमि पर एक धूर्त हुआ है जिसने जिज्ञासुओं को ऋषियों के मार्ग से हटाकर अपने तथा अपने गुरू रामचन्द्र दीक्षित के पीछे चलाने का कुकृत्य किया। उन्होंने अष्टाध्यायी को आर्ष और कौमुदी को अनार्ष ग्रन्थ घोषित किया। कौमुदी के पठन-पाठन को वे दुष्टता एवं पाप मानते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि आर्ष ग्रन्थ सार्वभौमिक सत्य का प्रतिपादन करते हैं और अनार्ष (मनुष्य कृत) ग्रन्थ भ्रमोत्पादक तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता से भरे

हैं और परस्पर द्वैष बढ़ाते है। इसलिए न केवल आर्ष ग्रन्थों का प्रचार होना चाहिए बल्कि अनार्ष ग्रन्थों के विनाश भी किया जाना चाहिए। दण्डी जी अपने चिन्तन से इस निर्णय पर पहुँचे थे कि यदि अनार्ष ग्रन्थों का विनाश भी किया जाना चाहिए। दण्डी जी अपने चिन्तन से इस निर्णय पर पहुँचे थे कि यदि अनार्ष ग्रन्थों के प्रवाह को नहीं रोका गया तो जनसाधरण आर्ष-ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं करेंगे। इसीलिए वे भट्टोजी आदि लोगों का नाम तक सुनना नहीं चाहते थे। किम्बदन्ती है कि पाठशाला में एक जूता रख दिया गया था, जो विद्यार्थी आता वह भट्टोजी दीक्षित के नाम पर जूता लगाता ताकि किसी के मन में उनके लिए प्रतिष्ठा का लेश मात्र भी शेष न रह जाए। कहते हैं कि एक दिन दण्डी जी ने अपने शिष्य गोपीनाथ को आदेश दिया कि इन अनार्ष-ग्रन्थों के कूड़े को यमुना में बहाकर कपड़ो सहित स्नान करके आओ। उसने पुस्तकें जल में प्रवाहित न करके घर में रख ली और वापस आकर झूठ बोल दिया। कुछ समय के बाद भेद खुला तो दण्डीजी ने तुरन्त उसे पाठशाला से निकाल दिया। यह अनार्ष ग्रन्थों के प्रचलन का ही दुष्परिणाम था कि भारतवर्ष में धर्म के नाम पर अन्धविश्वासों एवं अनेक प्रकार की कुप्रथाओं और रूढ़ियों ने घर कर लिया था। वेदादि सत्य शास्त्रों के पठन-पाठन की परम्पराएं समाप्त हो गई थी तथा जिसका जो मन करता था, अपने-अपने स्वार्थो के लिए एक अलग ही सम्प्रदाय खड़ा कर देता था। ऐसे विकट समय में मथुरा में आकर दण्डी जी ने आर्ष ग्रन्थों के प्रचार-प्रसार तथा अनार्ष ग्रन्थों के विनाश के लिए अपना अभियान आरम्भ कर दिया। तथाकथित पोंगापन्थियों द्वारा उनका विरोध होने लगा मगर दण्डी ती निःसंकोच एवं निर्भय हों कर अपने कार्य में लगे रहे। विरोधियों ने जिन विद्यार्थियों को

दण्डी जी की विद्वता की थाह लेने के लिए भेजा वे युगलकिशोर गौड़, जगन्नाथ चौबे, दामोदर सनाढ्य एवं चिरंजीवी लाल आदि दण्डी जी के व्याकरण-ज्ञान तथा अतुल प्रतिभा एवं व्याख्यान शैली को देखकर अभिभूत होकर उन्हीं के शिष्य बनकर उन्हीं से पढ़ने लग गए।

उनका प्रयास रहता था कि किसी न किसी प्रकार से आर्ष ग्रन्थों के प्रचलन को और अधिक लोकप्रिय एवं सार्थक बनाया जाए। उन्होंने एक बार रंगाचार्य को भी अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ने की प्रेरणा दी थी मगर वे दण्डी जी के इस सुझाव पर मौन धारण कर गए। वे एक बार क्लेक्टर हार्डिग के पास गए और उनसे आर्षग्रन्थों के प्रचार में सरकार से सहायता करने कें लिए अनुरोध करने को कहा मगर क्लक्टर ने उत्तर दिया था- यह विषय हमारे अधिकार क्षेत्र से बाहर है। एक बार मथुरा के कार्यवाहक क्लेक्टर प्रीस्टली सैर करते हुए दण्डीजी की पाठशाला के आगे से जा रहे थे। उन्होंने दण्डीजी की स्पष्टवादिता, निर्मल चरित्र एवं पाण्डित्य के विषय में सुन रखा था अतः उनसे मिलने चले गए और अपने योग्य सेवा पूछी। दर्ण्डीजी ने तुरन्त कहा-मेरी सेवा करना चाहते हो तो भट्टोजी दीक्षित के बनाए कौमुदी आदि जितने ग्रन्थ देश भर में है या कम से कम मथुरा में है, उन्हें जलवा दो या यमुना में प्रवाहित करा दो। नवम्बर, सन् 1859 में लार्ड केनिंग ने आगरा में दरबार किया जिसमें राजस्थान तथा उत्तरी भारत के राजा बुलाए गए। दण्डीजी राजा रामसिंह जी से मिलने स्वयं ही आगरा पहुँच गए। महाराजा ने उनका खूब आदर-सम्मान किया। उन्हें अपने आसन पर बिठाया और स्वयं श्रीचरणों में बैठे। दण्डी जी के विद्यार्थियों ने आशीर्वादात्मक मन्त्रोच्चारण किया और दण्डी जी की ओर से राजा को एक यज्ञोपवीत, एक नारियल तथा मथुरा के पेड़े भेंट किए जिसे

राजा ने कृतज्ञभाव से स्वीकार किया। जब बात-चीत आरम्भ हुई तथा महाराजा ने व्याकरण पढ़ने की इच्छा प्रकट की ताकि उन्हें वेदों का यथार्थ ज्ञान हो सके और उनका मन आधुनिक सम्प्रदायों से हट जाए। इस पर दण्डीजी बोले-आप व्याकरण-ग्रन्थ अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य नहीं सीख सकोगे क्योंकि इसके लिए प्रतिदिन तीन घण्टे श्रम करना पड़ेगा। इस पर राजा ने कहा कि यदि मुझे अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य नहीं आ सकते तो कोई अन्य ग्रन्थ बनाकर मुझे पढ़ा दीजिए। दण्डीजी ने कहा कि इन आर्ष ग्रन्थों का कोई विकल्प नहीं है। अनुकूल अवसर पाकर दण्डीजी ने कहा-हे राजन्! आज अनार्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन के कारण बहुत अमंगल हो रहा है। इनके लेखक सामान्य जन हैं। वे तत्वदर्शी ऋषि नहीं हैं। ये अनार्ष ग्रन्थ ही भारत के पतन का कारण है। आर्ष ग्रन्थों की प्रतिष्ठा मे बिना देश का कल्याण सम्भव नहीं है। शास्त्रों की मान्यता के विषय में मौलिक सुधार की आवश्यकता है परन्तु ब्राह्मण वेदहीन हो रहे हैं। आप में क्षत्रियोचित गुण विद्यमान है। आप एक सार्वभौम वैयाकरण महासभा का आयोजन कीजिए। इस सभा में गर्वनर जनरल को पधारने की अनुमति भी लेवें। इस महासभा में शास्त्रार्थ का विषय हो कि अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य ही व्याकरण के मुख्य ग्रन्थ हैं। मैं सिद्ध करूँगा कि कौमुदी, मनोरमा, न्यायमुक्तावली, भागवत पुराण आदि नवीन ग्रन्थ अशुद्ध है। दण्डीजी के प्रस्ताव को महाराजा ने ध्यान से सुना और फिर सार्वभौम महासभा का आयोजन स्वीकार किया मगर बाद में कई प्रकार के बाहरी दबाबों में आकर दण्डी जी द्वारा स्मरण कराने के बाबजूद भी राजा यह सभा आयोजित नहीं कर सके। दण्डी जी ने कश्मीर के राजा रणवीर सिंह और ग्वालियर के राजा जयाजीराव को भी इस आशय के पत्र लिखे मगर सब व्यर्थ ही गया।

अब दण्डी स्वामीजी के लिए अपने विद्यार्थी ही एक मात्र आशा की किरण थी। जो उनसे अध्ययन करने के बाद आर्ष ग्रन्थों के उद्धार एवं प्रचार-प्रसार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर सकें मगर वर्तमान् शिष्यों में पूर्ण समग्रता के साथ आर्ष-ज्ञान को आत्मसात् करने की सामर्थ्य उन्हें नहीं दिखाई दे रही थी। परमात्मा की अपार कृपा से एक त्यागी, तपस्वी, आदित्य ब्रह्मचारी, प्रभु भक्त, अलौकिक एवं विलक्षण विद्यार्थी ने 14 नवम्बर 1860 को गुरू विरजानन्द जी की कुटिया का दरवाजा खटखटाया। गुरू-शिष्य की यह भेंट आर्यावर्त के लिए ही नहीं बल्कि समूचे विश्व के लिए एक वरदान सिद्ध हुई। महर्षि दयानन्द जी स्वनाम-धन्य गुरू विरजानन्द जी का सान्निध्य पाकर तथा दण्डी स्वामी जी अति प्रतिभाशाली विलक्षण शिष्य दयानन्द को पाकर कृत-कृत्य हो गए। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी बचपन से ही बहुत प्रतिभाशाली तथा जिज्ञासु भावना से ओत-प्रोत थे। जो बात मन में ठान लेते थे उसे पूरा करने के लिए पूर्ण श्रद्धा एवं समर्पण के साथ कटिबद्ध हो जाते थे। शिव-मन्दिर की घटना से उनके हृदय में सच्चे शिव को प्राप्त करने की तथा बहिन और चाचा की मृत्यु से मृत्युजंयी बनने का जो संकल्प हृदय में पैदा हुआ उसे पूरा करने के लिए जब वे कटिबद्ध हो गए तो संसार की कोई शक्ति उन्हें रोक नहीं सकी। वैराग्य के भाव चरम-सीमा पर पहुँचे और उन्होंने गृह-त्याग कर दिया। एक बार घर से निकले तो फिर वापस नहीं लौटे। इन घटनाओं से उन्हें जो बोध हुआ उसे प्रतिबोध में परिवर्तित करके ही जीवन को सफलता प्रदान की। योग की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्होनें सुदूर प्रदेशों के पर्वत शिखरों तथा नदियों का परिभ्रमण किया तथा प्रबुद्ध एवं स्वयं-सिद्ध योगियों से योग-विद्या को प्राप्त किया परन्तु ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं हुई।

उन्होंने अपनी यात्राओं में ईश्वर के नाम पर, योग के नाम पर, धर्म-कर्म के नाम पर जो पाखण्ड तथा अनाचार एवं दुराचार और समाजिक कुरीतियां देखी थी, वे जानना चाहते थे कि क्या ये शास्त्र सम्मत है। इसके लिए शास्त्राध्ययन आवश्यक था। इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए वे सन् 1855 में हरिद्वार पधारे थे तथा स्वामी पूर्णानन्द जी से भेंट करके उनसे पढ़ाने का आग्रह किया था मगर वृद्धावस्था के कारण उन्होंने दयानन्द जी को शास्त्राध्ययन कराने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि यदि तुम पढ़ना चाहते हो तो मथुरा में मेरे योग्य शिष्य विरजानन्द के पास चले जाओ, वे तुम्हारी मनोकामना पूरी करेंगे। पण्डित लेखराम जी के अनुसार महर्षि दयानन्द जी ने नर्मदा तट पर परिभ्रमण करते समय गुरू विरजानन्द जी की विद्वता की प्रशंसा सुनी हुई थी। अतः स्वामी पूर्णानन्द जी के परामर्श पर उन्होंने मथुरा के लिए प्रस्थान किया और महर्षि दयानन्द जी को सच्चा गुरू तथा दण्डी जी को सच्चा शिष्य मिल गया।

दण्डीजी के पास जो भी विद्यार्थी विद्या-ग्रहण करने के लिए आता था, उससे वे जो कुछ भी कहते थे वही दयानन्द जी से कहा कि जो मनुष्य-कृत ग्रन्थ आज तक पढ़ें हैं, वे अनार्षग्रन्थ है। उन्हें पूर्णतया भूल जाओ। जब तक तुम पर इन ग्रन्थों का प्रभाव रहेगा तब तक ऋषि-पाणीत आर्ष-ग्रन्थों का हृदय में प्रकाशन न हो सकेगा। तुम इन ग्रन्थों को यमुना में बहा दो। दूसरी बात उन्होंने कही कि मै संन्यासी को नहीं पढ़ाया करता हूँ क्योंकि उसके भोजन तथा निवास आदि की निश्चित व्यवस्था नहीं होती जिसके कारण वह निश्चिन्त होकर पढ़ने में एकाग्रचित्त नहीं हो सकता। तुम अपने भोजनादि की व्यवस्था करके आओ। धीर, गम्भीर, दृढ़ जिज्ञासु

शिष्य दयानन्द जी ने गुरू-आज्ञा को शिरोधार्य किया तथा अपने पास के ग्रन्थों को यमुना में बहा दिया और अपने गुरूजी को यह आश्वासन भी दिया कि भोजनादि की समुचित व्यवस्था भी वह स्वयं कर लेंगे। इस प्रकार भावी भारत-भाग्य विधाता दयानन्द जी को आर्ष-ग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति प्राप्त हो गई। आरम्भ में तो दुर्गाप्रसाद खत्री जी ने महर्षि जी के लिए भुने हुए चनों की व्यवस्था कर दी मगर बाद में गुजराती औदीच्य ब्राह्मण जोशी बाबा अमरलाल जी ने दयानन्द जी के भोजन तथा पुस्तकों आदि की व्यवस्था कर दी। छत्ता बाजार के खेतामल नन्नुमल सर्राफ जी ने तेल के लिए चार आने मासिक तथा हरदेव पत्थरवाले जी ने दूध के लिए प्रतिमास दो रूपए देने नियत कर दिए। महर्षि दयानन्द जी का अध्ययन आरम्भ हुआ तो प्रज्ञा-शक्ति इतनी तेज थी कि एक-दो बार सुनकर ही पाठ सदा के लिए स्मरण हो जाता था। उनकी गुरू-भक्ति भी अद्भुत थी। वे दण्डी जी के ब्रह्ममुहूर्त में स्नान करने तथा सांयकालीन स्नान के लिए और पीने के लिए सर्दी, गर्मी व बरसात में स्वयं यमुना से अपने कन्धों पर बीसियों जल के घड़े भरकर लाते थे। अध्ययन काल में कुछ अवसर भी आए कि उन्हे नाहक ही अपने गुरूजी की नाराजगी का शिकार होना पड़ा मगर दयानन्द जी ने उसे भी अपने लिए आर्शीवाद ही माना। यूँ तो महर्षि दयानन्द जी ने अपने गुरू दण्डी स्वामी जी से वहु-विद्याएं अर्जित की होगी मगर उनके गुरूजी ने जो मुख्य बात उनके मस्तिष्क में स्थापित की वह थी आर्ष और ग्रन्थों में भेद करना। दण्डी स्वामी विरजानन्द जी के पारखी प्रज्ञा-चछुओं ने भली प्रकार से यह सुनिश्चित कर लिया था कि दयानन्द ही उनके कार्य का आगे बढ़ाने वाला उनका उत्तराधिकारी है इसलिए उस पर उन्होंने अपना सारा ज्ञान उण्डेल

दिया और जब विदा होने का समय आया तो यह है कि विलक्षण और अनुपम शिष्य ने अपने गुरू की इस आज्ञा पर जरा सी भी न-नुच किए बिना बड़ी श्रद्धा से तथास्तु कह दिया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने अपने गुरू दण्डी स्वामी विरजानन्द जी से जो कुछ सीखा उसे इस प्रकार से विवेचित किया जा सकता हैं मूलतः गुरू-शिष्य दोनों ही ईश्वर-भक्त एवं योगी महापुरूष थे। उनका मानना था कि ईश्वर एक है, निराकार है तथा निज नाम ओम् है। इसीलिए उन्होंने मूर्ति-पूजा को वेद विरूद्ध बताया। परमात्मा कभी भी मनुष्य के रूप में अवतरित नहीं होता है इसलिए उनके अवतारों की कल्पना करना अज्ञानता का प्रतीक है। वेद में इस प्रकार का कोई संकेत नहीं है। मृतक-श्राद्ध वेद-विहित नहीं है तथा जीवित मां-बाप और पितरों की सेवा सुश्रुषा करना ही सच्चा श्राद्ध है। कोई भी आर्ष ग्रन्थ बाल-विवाह की अनुमति नही देता है और न ही विधवा के लिए पुनर्विवाह वर्जित है। आश्रम और वर्ग व्यवस्था वेद विहित है तथा सामाजिक समरसता के लिए इनका कार्यान्वयन करना अनिवार्य है किसी भी वर्ण के लिए उसके गुण,कर्म,स्वभाव प्रमुख है न कि जन्म। नारी को भी पुरूषों के समान ही वेदादि आर्ष ग्रन्थों को पढ़ने का अधिकार है। वेद परमात्मा द्वारा आदि-सुष्टि में दिया गया ज्ञान है इसलिए वह निभ्रान्त और अपौरूषेय तथा स्वतः प्रमाण है। अपौरूषेय वेद के अतिरिक्त संस्कृत का जितना भी साहित्य है उसको उन्होंने आर्ष तथा अनार्ष दो श्रेणियों में विभक्त करके कहा कि वैदिक काल के ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ आर्ष तथा महाभारत काल के बाद की सामान्य मनुष्यों द्वारा रचित पुस्तकें अनार्ष है। सभी आर्ष ब्रन्थों का संवर्धन करना चाहिए। इसके लिए राज्य-शक्ति का सहयोग भी प्राप्त करना चाहिए। तथा अपने देश के परतन्त्रता की बेडियों से मुक्त करके

अपनी संस्कृति का उत्थान करना चाहिए। महर्षि दयानन्द जी ने गुरू जी से विदा लेकर इन्हीं समस्त कार्यों के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया।

उन्होंने स्थान-स्थान पर जाकर लोगो से सम्पर्क स्थापित करके चर्चाएं की प्रवचन दिए तथा तथाकथित पोंगा-पन्थियों से शास्त्रार्थ किए। अपने गुरू प्रज्ञाचक्षु के समान ही वे भी किसी भी शास्त्रार्थ में पराजित नहीं हुए। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश, संस्कार-विधि, आर्यभिविनय, गोकरूणानिधि, व्यवहरभानु, आर्योद्‌देश्यरत्नमाला, पंचमहायज्ञ विधि ऋग्वेद (अपूर्ण) यजुर्वेद-भाष्य, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, आदि अनेक अद्‌भुत ग्रन्थों की रचना की। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के चौदह समुल्लासों में उन्होंने पहले दस समुल्लास मंडनात्मक तथा शेष चार खंडनात्मक लिखे। सत्यार्थ प्रकाश एक ऐसा कालजयी ग्रन्थ है जिसका अध्ययन करने से व्यक्ति निन्भ्रान्त होकर लोक-परलोक आदि के समस्त रहस्यों को आत्मसात् कर सकता है। इस ग्रन्थ की भूमिका में महर्षि दयानन्द ने ग्रन्थ लिखने का आशय प्रकट करते हुए लिखा है कि सत्य-असत्य का निर्णय करने तथा असत्य के त्यागने और सत्य को अपनाने की प्रेरणा के लिए उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा है। प्रथम समुल्लास में परमात्मा के एक सौ से अधिक नामों की व्याख्या, दूसरे में सन्तान-निर्माण, तीसरे मं पठन-पाठन आदि की चर्चा, चौथे में गृहस्थाश्रम का विवेचन, पांचवे में संन्यास एवं वानप्रस्थ धर्म की चर्चा की है। छट्‌ठे समुल्लास में राज-धर्म विषय का विशद् विवेचन किया गया है, सातवे में ईश्वर तथा वेद के बारे में लिखा है, आठवें में तीन अनादि पदार्थो तथा सृष्टि-उप्तत्ति और कर्म-फल आदि की चर्चा है, नौवें में विद्या-अविद्या, बन्ध-मोक्ष आदि की सटीक व्याख्या की गई है। दसवें में भक्ष्य-अभक्ष्य व आचार-आनाचार तथा धर्म का विवेचन है। ग्याहरवें समुल्लास में आर्यवर्तीय मतों की, बारहवें में नास्तिक मतों की, तेहरवें में ईसाई मत

और चौदहवें में इस्लाम-मत की समीक्षा की गई 'संस्कार विधि' में मानव निर्माण की योजना को विधिवत् कार्यान्वित करने के सूत्र उन्होंने प्रस्तुत किए है। उनका एक ही लक्ष्य था-कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। सारे संसार को आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनाना। श्रेष्ठता का बीजारोपण कैसे किया जाए इसी की विधि उन्होंने संस्कार विधि में बताई है। इस ग्रन्थ में विवेचित सोलह संस्कारों द्वारा ही व्यक्ति अपने जीवन का संवार्ग्रीण विकास कर सकता है। 'आर्यभिविनय' ग्रन्थ में उन्होंने जिन वेद मन्त्रों को लेकर प्रार्थनाएं की है, वे उपने आप में अद्‌भुत एवं अनुपम है। इन प्रार्थनाओं में स्वराज्य प्राप्ति की प्रार्थनाएं तो है ही मगर साथ ही विदेशी सरकार के प्रति खुले रूप में विद्रोह की भावना भी अभिव्यक्त हुई है। 'गोकरूणा-निधि' ग्रन्थ में गाय की महता पर प्रकाश डाला गया है तथा कटती हुई गौ-माता की पुकार है। इस सम्बन्ध में महर्षि जी इतने जागरूक थे कि उन्होने तत्कालीन सरकार को गौ-हत्या बन्दी का आग्रह किया था। 'व्यवहारभानु' में शिष्टाचार, लोगों को आपस में किस प्रकार धर्मानुसार व्यवहार करना चाहिए इन समस्त बातों को रोचक दृष्टान्तों के माध्यम से बताया गया है। 'आर्योद्‌देश्यरत्नमाला' में आर्यसमाज की मान्यताओं की एक सौ परिभाषएं है। सूत्र रूप में अनुपम परिभाषएं लिखकर महर्षि जी ने मानों गागर में सागर ही भर दिया। है। 'पंच महायज्ञविधि' में ब्रह्म-यज्ञ, देव-यज्ञ, अतिथि-यज्ञ और बलिवैश्वदेव-यज्ञ करने का विधान एवं विधि बताई गई है। भले ही महर्षि जी अपने जीवन काल में ऋग्वेद के कुछ भाग तथा यजुर्वेद का ही भाष्य कर पाए हों मगर वेदार्थ-बोध के लिए 'ऋग्वेददि भाष्य भूमिका' के रूप में एक अनुपम ग्रन्थ दे गए है। उन्होंने सटीक प्रमाणों से यह बात संसार के सामने रखी कि वेद ज्ञान परमात्मा के द्वार दिया गया निर्भ्रान्त एवं सृष्टि नियमानुकूल सार्वभौमिक ज्ञान है तथा यही मानव मात्र के लिए अन्तिम

सत्य एवं निभ्रान्त धर्म है। उनसे पूर्व आम जनता की बात तो क्या कहे, भारतीय तथा पाश्चात्य मनीषियों के लिए भी वेद मात्र कर्मकाण्ड का ग्रन्थ था। सही नहीं उनसे पूर्व वेद के भाष्य इस प्रकार किए गए कि वे मानव मात्र से दूर बहुत दूर होते चले गए। वेदों पर लौकिक इतिहास, अश्लीलता, जादू टोने आदि के आरोप लगाए गए तथा उन्हें गडरियों के गीत तक कहा गया। महर्षि दयानन्द जी ने वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक ही नही कहा बल्कि उसे मानव मात्र के लिए अत्यन्त व्यवहारिक और अनुकरणीय बताया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वेद में आपार ज्ञान-विज्ञान भरा पड़ा है। उन्होंने वेद के आध्यात्मिक स्वरूप को ही हमारे सामने नही रखा बल्कि उसका व्यवहारिक पक्ष भी हमारे सामने रखा। इस सम्बन्ध में योगीराज अरविद घोष ने कहा है कि वेद का अन्तिम सत्य चाहे कुछ भी हो मगर महर्षि दयानन्द जी ऐसे प्रथम महापुरूष थे जिनके पास वेद के रहस्यों को खोलने की असली कुंजी थी। ऋग्वेदादि भाष्य के रूप में वे वह कुंजी आगे आने वाले विद्वानों के लिए सौंप गए हैं।

प्रवचन, शास्त्रार्थ तथा ग्रन्थ लेखन तो उन्होंने किया ही मगर अपने अनुयायिओं के प्रबल अनुरोध पर उन्होंने 7 अप्रैल, 1875 को मुम्बई में आर्यसमाज की सीापना भी की ताकि यह संस्था उनके बाद भी उनके कार्य को सुचारू रूप से करती रहे। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी की चिन्तनधारा एकदम सटीक, स्पष्ट तथा सार्वभौतिक और सार्वदेशिकता एवं सार्वकालिता लिए हुए है। उनके द्वारा पुस्तुत विचारधारा इसलिए भी प्रमाणित और सार्थक है क्योंकि वह किसी साधारण व्यक्ति द्वारा अनुमोदित नहीं बल्कि उसका आधार आप्त पुरूष तथा परमात्मा का वेद ज्ञान है। उन्होने अपनी विचारधारा इस प्रकार से विवेचित की है कि सार्वभौमिकता के साथ-साथ उसमें समसामयिकता और राट्रीयता का

समावेश बखूबी हुआ है कि उनकी विचारधारा तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीय जनजागरण के चंहुमुखी चेतनता का कारण बनी। इस बात के प्रमाण अब मिल चुके है कि महर्षि दयानन्द जी तथा उनके गुरू दण्डी स्वामी विरजानन्द जी का सहयोग अठाहर सौ सतावन के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में रहा है। सह अलग बात है कि कुछ मूलभूत कारणों से उस समय सफलता नहीं मिल सकी मगर महर्षि के भीतर स्वतन्त्रता की आग निरन्तर प्रज्वलित रही तथा उन्होंने सबसे पहले उन कारणों को दूर करने का बिड़ा उठाया जिनके कारण वह आन्दोलन असफल रहा था। हमारा समाज उस दिनों अनेक प्रकार की कुरीतियों से बुरी तरह से जकड़ा हुआ था। जहां एक ओर बाल विवाह, सती प्रथा तथा महिलाओं को न पढ़ाने जैसी कुरीतियों से बुरी तरह से जकड़ा हुआ था। वहीं दूसरी ओर सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता का चिन्तन अभाव था। समाज मत-मजहब और उंच-नीच तथा क्षेत्रवाद की संकुचित काराओं में जकड़ा हुआ था। महर्षि जी ने इन समस्त कुरीतियों पर दृढ़ता के साथ कुठाराघात किया।

उन्होंने पैरों की जूती कही जाने वाली तथा मात्र भोग की सामग्री समझी जाने वाली नारी को एकदम गौरव का स्थान देले हुए मनु महाराज जी के शब्दों में उद्घोषणा की-यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। अर्थात् जहाँ नारियों का सम्मान होता है वहीं पर देवता निर्मित होते है। बाल-विवाह और सतीप्रथा आदि को बन्द कराने के लिए उन्होंने ठोस प्रयास किए। उन्होंने जाति-पाति और ऊंच-नीच के अभिशाप से जनमानस को मुक्त करने के लिए समानता और समरसता का मार्ग प्रस्तुत करते हुए कहा कि जन्म से कोई भी ऊंच-नीच नहीं होता बल्कि व्यक्ति के कर्म ही उसे श्रेष्ठ बनाते है। उन्होंने वर्ण और व्यवस्था के न केवल सही अर्थ ही बताए बल्कि उनके सही कार्यान्वयन का मार्ग भी हमारे

समक्ष रखा। इस माध्यम से उन्होंने समूचे देश को एकता के सूत्र में पिरोने का महत्वपूर्ण कार्य किया तथा भारतीय जनता को अपने-अपने संकुचित दायरों से बाहर निकलकर पूरे देश को स्वतन्त्रता की बात सोचने के लिए प्रेरित किया। प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम की असफलता के बाद उनका यह प्रयास ठीक ऐसा ही था जैसे कोई बहुत बड़ी छंलाग लगाने के लिए कुछ दूरी के लिए पिछे हटता है। महर्षि जी का प्रयास सफल हुआ तथा लोगों के भीतर एक नई उमंग, जोश और साहस तथा सामूहिक देशभक्ति के भावों का सृजन हुआ। इतिहास इस बात का गवाह है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने राष्ट्रीय जागरण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कांग्रेस का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि स्वंतन्त्रता संग्राम में अस्सी प्रतिशत से भी अधिक आर्यसमाजियों ने अपना योगदान दिया है। यहीं नहीं एक आकलन के अनुसार स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर कुल उन्नतीस सौ लोगों ने फांसी को चूमा है जिनमें से अठाईस सौ आर्यसमाज से सम्बन्धित रहे हैं। केवल इतना ही नहीं बल्कि स्वतन्त्रता की इस लड़ाई में भाग लेने वाले अन्य लगभग समस्त नेताओं पर भी किसी न किसी प्रकार महर्षि दयानन्द या आर्यसमाज की ही प्रेरणा रही है। महर्षि दयानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में सबसे पहले स्वदेश और स्वतन्त्रता की बात कही है। बाल गंगाधर तिलक जी का कथन है कि 'स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' यह प्रेरणा मुझे महर्षि दयानन्द जी से ही मिली है। लाला लाजपतराय, सरदार भगत सिंह, अजीत सिंह, रामप्रसाद बिस्मिल एवं उनके शिष्य इशफाकउल्ला खां, रोशन सिंह, भाई परमानन्द आदि अनेक क्रान्तिकारियों का प्रेरणास्त्रोत आर्यसमाज ही रहा है। केवल इतना ही नहीं बल्कि विदेश में इण्डिया हाऊस की स्थापना करने वाले तथा

वीर सावरकर, मदन लाल ढिंगरा, लाला हरदयाल आदि के प्रेरक पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा, न केवल महर्षि जी के अनन्य भक्त थे बल्कि विधिवत् उनका पत्र-व्यवहार महर्षि जी के साथ रहा है। ऋषिवर की अमर गाथा और योगदान अनन्त है। हम उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को शत्-शत् नमन एवं स्मरण करते हैं।

इस पुस्तक के मुद्रण हेतु स्त्री आर्य समाज जनकपुरी की ओर से 2100/- रु. की सहायता राशी प्रदान की गई है।

धन्यवाद!

आर्य समाज के नियम

1. सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।
2. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करने योग्य है।
3. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना आर्यों का परम धर्म है।
4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
5. सब काम धर्मानुसार अर्थात सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहिए।
6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्धेश्य है अर्थात शारीरिक, आत्मिक और समाजिक उन्नति करना।
7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए।
8. अविधा का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
10. सब मनुष्यों को समाजिक सर्वहितकारी नियम पालन में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।